उपस्थिति

अल्पना मिश्र

हिन्दी ADDA

उपस्थिति

इस बार मैं बहुत सावधानी से चल रही हूँ। पैर दबाकर, एकदम धीरे। मेरी आहट, इस बार वह जान नहीं पाएगी। मैंने अपने दोनों हाथ पीछे कर लिए हैं। आँखे उस पर टिका ली हैं और बहुत धीरे, सचमुच बड़ी सावधानी से आगे बढ़ रही हूँ। यह रोज होता है। रोज सुबह का अभ्यास। सुबह का घंटा दो घंटा बस इसी की भेंट चढ़ जाता है। न जाने कहाँ से रोज चली आती है। चमकती हुई, गाती हुई। उसका गाना न जाने क्यों मुझे इतना काटता है। शरीर में लहर उठने लगती है - साँप के काटे की लहर। मैं दौड़कर

अखबार उठा लेती हूँ। मोड़कर उसे मोटा-सा बेंत जैसा रूप देती हूँ। चुपके से इस कागजी बेंत को पीछे छिपाते हुए सावधान, धीरे कदमों से उसकी तरफ बढ़ती हूँ। लेकिन वह है कि मुझे मेरा लक्ष्य नहीं पूरा करने देती।

मैं पहुँचती हूँ। मेरा चेहरा सख्त हो जाता है। बेंत उठाता है मेरा सख्त हाथ और 'तड़ाक' की आवाज गूँजती है थोड़ी देर तक। मैं फेल होती हूँ। वह चकमा देती है। मैं फिर वही करती हूँ, उसके कहीं रुकने का इंतजार।

वह सोफे के हत्थे पर बैठ जाती है। अपना एक हाथ या पैर, जो भी मान लें, उठा-उठाकर रगड़ जैसा रही है। हल्की-हल्की ध्वनि तैर रही है। मुँह ऊपर करके मेरी तरफ देखती है। चमकती आँखों में सम्मोहन है। मैं नहीं फँसनेवाली। मैं अपनी मुद्रा में कायम हूँ। धीरे-धीरे उसकी आँखों से आँख चुराते हुए उसकी तरफ बढ़ती हूँ। वह हाथ नीचे कर लेती है। सरेंडर। मेरा वह हाथ तेजी से उठता है, जिसमें अखबार की बेंत है। वार फिर खाली। शैतान कहीं की। देखती क्या हूँ महारानी बैठ गई हैं पंखे के डैने पर। आवाज करके बुला रही हैं मुझे। अपने पीले, कुछ सुनहरे बिंदीदार पंख झप-झप करके चिढ़ा रही हैं मुझे। रहने दो बच्चू! मैं भी इंतजार करूँगी तुम्हारे नीचे उतरने का।

इंतजार करती हूँ मैं। और वह क्षण है कि मैं सब भूल जाती हूँ। यह भी कि मैं किस जगह हूँ कि यह घर कैसा है, किस रंग से इसकी दीवारें पुती हैं, कौन से कलेंडर में मैं तारीखों के ऊपर हिसाब लिख देती हूँ, कौन सी घड़ी अलार्म से मुझे जगाती है, यहाँ तक कि मेरा टेलीविजन किस तरह का है आकार-प्रकार में, जिसे कि मैं देर दोपहर और देर रात तक देखा करती हूँ। यह भी कि बस इसके आने के कुछ पहले ही यह घर आवाजों से, भाग-दौड़ से भरा था।

कुछ पहले ही इस घर से काली पतलून और चारखाने की कमीज पहने, एक हाथ में छोटा-सा बैगनुमा थैला लटकाए, एक में टिफिन बॉक्स लिए एक आदमी गया है। दफ्तर की तरफ गया होगा। कैसा होगा उसका दफ्तर? मैं बिल्कुल ठीक-ठीक नहीं बता सकती। मैंने कभी देखा ही नहीं। कभी देखने की कोशिश भी नहीं की। उसने कभी ढंग से कुछ बताया भी नहीं। मैंने भी नहीं पूछा। पूछ सकती थी, वह बता भी सकता था। पर ऐसा हुआ नहीं। क्यों? यह नहीं कह सकती। बस, नहीं हो पाया। जो उसने कहा था टूटा-टूटा सा कुछ, कभी, कहीं। जो मैंने सुना था। उससे मुझे लगा था, दफ्तर की दीवारों से चूना झरता होगा, कुछ मेज होंगे, कुर्सियों के साथ, उन पर चूना गिर जाता होगा जिसे रोज हटा देना जरूरी होता होगा। यह भी मैं कह सकती हूँ कि दफ्तर के आगे की जगह, सड़क या मैदान जैसा कुछ, मिट्टी का बना होगा। बारिशों में कीचड़

हो जाता होगा। दफ्तर की फर्श जूते चप्पलों के खुरों (सोल) के अलग-अलग तरह वाले डिजाइन से भरती जाती होगी। कैसी लगती होगी? चितकबरी या मटमैली? कितनी परेशानी में पड़ जाते होंगे जूते-चप्पल? कोई भी उन्हें देखकर जान सकता है। यह जानना आसान है। कुछ फाइलें होंगी ही। कोई होगा ही, जो बॉस होगा। कुछ लोग होंगे, जो कुछ घरों से इसी तरह निकलते होंगे। रोज। बस, इससे ज्यादा मैं उस जगह के बारे में अंदाज नहीं लगा सकती, जहाँ के लिए वह रोज निकलता है।

शाम पाँच बजे या साढ़े पाँच या छह बजे तक जब वह लौटता है, बैगनुमा थैले में कुछ दुनियावी चीजें भरे हुए। सब्जियाँ और थकान लादे। इतना अजनबी होता है वह कि मैं उससे कुछ बता नहीं सकती। क्या-क्या बीता आज मुझ पर। लगता है वह किसी दूसरी दुनिया से लौटकर आया है। लौटकर और हारकर।

इसी घर से रोज एक बच्चा भी निकलता है। यही कोई दस बरस का। बच्चा अकसर रोते हुए निकलता है। स्कूल जाने का उसका मन नहीं करता। मेरा भी मन नहीं करता। पर स्कूल जाना जरूरी है।

बहुत सारी चीजें इतनी जरूरी होती हैं कि उन्हें टाल देने के बारे में सोचा भी नहीं जा सकता।

ये चीजें जीवन से ऊपर होती हैं। इनसे जीवन बनता है। जीवन से ये नहीं बनतीं।

इसलिए बच्चा स्कूल जाता है। कंधे पर काले और नीले रंग का बैग लादे बच्चा खच्चर होता है। हर साल खच्चर का बोझ बढ़ेगा। यह तय है। कितना बढ़ेगा? यह तय नहीं है। तय से अधिक ही होगा। यह भी तय है। गले में गहरे रंग का धारियों वाला पट्टा बँधा है, जिसे देखकर आप दूर से ही कह सकते हैं कि वह जेल की किस वाली इमारत से 'बिलांग' करता है। इमारत की ऊँचाई-लंबाई-चौड़ाई और खूबसूरती से आप पट्टेवाले का क्लास भी जान सकते हैं। बिना बताए, बिना बतियाए। बच्चे के हाथ में वॉटर बॉटल लटकती रहती है। हल्के पीले रंग की कमीज और गहरे हरे रंग का पैंट शरीर के अधिकतम भाग को कब्जाए रहता है। यही स्कूल का यूनीफार्म है। मैं अपने बचपन में कभी भी इस रंग के यूनीफार्म के बारे में सोच नहीं पाती थी। लगता था सफेद शर्ट और नीली स्कर्ट या पैंट सारी दुनिया के स्कूल का यूनीफार्म होता होगा। मेरी इस सोच को अकेले इसी शहर ने तोड़कर रख दिया। जितने स्कूल, उतने रंग के यूनीफार्म। एक एक स्कूल के अकेले तीन-तीन, चार-चार तरह के यूनीफार्म।

तो यूनीफार्म से ढका बच्चा बस के लिए खड़ा रहता है। मैं भी उसके साथ खड़ी रहती हूँ। तब तक, जब तक कि मटमैले पीले रंग का बहुत बड़ा डिब्बा आ नहीं जाता। जब तक पीले हरे रंग का यूनीफार्म मेरे पास से खिसकर उसमें बंद नहीं हो जाता। वह हाथ हिलाता है तब भी, जब रो रहा होता है। मैं भी हाथ हिलाती हूँ तब भी, जब परेशानी महसूस कर रही होती हूँ। मैं बस को देखती हूँ, तब तक, जब तक कि बस के पीछे लिखे अक्षर धुँधलाते-धुँधलाते मिट नहीं जाते। ये अक्षर मुझे याद हो गए हैं। मैं इन्हें बिना पढ़े, पढ़ लेती हूँ। रोज।

अभ्यास बड़ी चीज है।

खैर, तो मैं यह कहना चाह रही थी कि मैं उस क्षण सब कुछ भूल जाती हूँ। बस, वह होती है मेरे दिमाग में, झनझनाती हुई। मैं बार बार कोशिश करती हूँ। आँखें उस पर टिकाए रखती हूँ, पर वह, अचानक जाने कहाँ निकल जाती है। कई बार मैंने खिड़की, दरवाजे पूरे ध्यान से बंद किए, पर ये है कि अपने निर्धारित समय पर उपस्थित। मुझे कितना तो दौड़ाया होगा इसने। कभी किचन में, तो कभी गलियारे में, कभी बेडरूम में, तो कभी ड्राइंगरूम में। कई बार तो मैंने यह भी चाहा कि उसे नजरअंदाज कर दूँ। जहाँ चाहे पड़ी रहे। मगर उसकी उपस्थिति! बैठी रहेगी गलियारे में, आवाज उसकी गिरती रहेगी किचेन में। मेरा काम करना दुश्वार। मैं नहा रही हूँ, वह किस कोने से घुस आई है, इधर उधर गाते हुए घूम रही है। मेरा नहाना दुश्वार। न जाने कब इन दुश्वारियों के बीच यह घटित होता चला गया। मैं चिल्लाने लगी - 'उधर मत जाना।'

वह नहीं गई।

'इसके आगे नहीं'।

वह नहीं बढ़ी।

मैं जहाँ हूँ, वहीं आस-पास मँडराती हुई।

जाने कब यह भी हुआ कि मैंने अखबार को बेंत बनाना छोड़ दिया। जाने कब उसका गाना मुझे रुचने लगा। जाने कब मैं एक खास समय में उसके इंतजार में होने लगी। जाने कब बतियाना शुरू हुआ। शायद साल बीत गया होगा या बीतने को होगा। कोई इतना ही वक्त हुआ होगा। मैंने कभी वक्त की गिनती पर ध्यान नहीं दिया। देने का कोई मतलब भी नहीं था।

असल में यह एक निहायत मामूली बात थी। मुझे भी ऐसा ही लगा था। बल्कि मैं तो उसे मारकर खत्म कर देना चाहती थी। शुरू में मुझे चिंता भी बहुत होती थी। कहीं वह खाने की चीजों पर न बैठ जाए। जहरीली हो सकती है। खूबसूरती का जहर से रिश्ता-

पुरखों ने कहा। हमने मान लिया।

साँप हमारे आगे था। हड्डा और भौंरा हमारे आगे थे। गिरगिट भी था और बिषखोपड़ा भी...

औरत भी थी ही।

राह में जो आए, वह काँटा।

राह में जो आए, खूबसूरत भी जहरीला।

पुरानी मान्यता का ध्यान मुझे भी था और मैंने भरसक मारने की कोशिश भी की थी, पर वही निकली अपराजेय। उसी ने मिलाया मुझे अपने में। उसी ने मुझे छेड़ा।

मैंने ऐसी मक्खी कभी नहीं देखी। घरेलू सामान्य मक्खी यह नहीं है। मधुमक्खी भी नहीं। हैजे की भी नहीं। मक्खियों के न जाने किस प्रकार में आती होगी? मैंने सोचा था कि किसी जीवविज्ञान वाले से पूछूँगी। आखिर इसे क्या कहा जाए? कीड़ा या पतंगा कहना उसके लिए अपमानजनक लगता है। डिमोशन होता है उसका। वह इससे ज्यादा है। उसके छोटे-छोटे पीले डैने हैं। ततैया नहीं है वह। पीले डैनों पर काली-काली बिंदियाँ हैं - खूबसूरत। हरे शीशे जैसी चमकती गोल आँखें हैं। बिल्ली की आँख है उसमें। बिल्ली नहीं है वह। कौन कहता है वह भिनभिनाती है। गाती है वह। स्वर के उतार-चढ़ाव के साथ। मक्खियों के पास भी गीत होते हैं, उनकी आंतरिक लय में गुँथे। हृदय जैसा कोई तंतु होता है उनके भी पास। सुख-दुख को महसूस करता हुआ। भाषा होती है उनके पास। प्राण-वायु से भरी।

बतियाते हैं हम।

जो मैं नहीं कह पाई थी, उससे कहा।

जो मैं बचा ले गई थी, उसके सामने खोला।

'सिमरन' नाम है मेरा। 'सिमरन' नाम नहीं है मेरा। 'सिमरन' बुलाओ तो लगता है किसी और को आवाज दे रहे हैं। कई बार मैंने खुद को बुलाकर देखा है। 'सिमरन'

'सिमरन' कहकर, आवाज देकर कई बार अकेले में मैंने अभ्यास भी किया है। इसे कागज पर लिखकर पानी के साथ निगला भी था, फिर भी यह भीतर नहीं गया। भीतर का दरवाजा सँकरा है। यह नाम उससे टकराकर बाहर गिर जाता है।

काबेरी नाम था, है। माँ-बाप का दिया। शादी के बाद पूजा करवाकर मेरा नाम बदल दिया गया। सिमरन। मेरी सर्टिफिकेट नहीं बदली गई। मेरा कोई सामान नहीं बदला गया। सोफा को कुछ और नहीं कहा गया। पलंग, चादरें, साड़ी... सब कुछ का नाम वही रहा। मेरा नहीं रहा।

प्रथा है यह।

मैं जानती थी। सुना था मैंने।

कोई लड़की जो 'रंजना' है, 'रंजू' जिसे घर पर बुलाते हैं। अचानक एक दिन सुलोचना बना दी जाएगी। कविता, सविता या जिस अक्षर का नाम मान्य होगा वहाँ। उसे यकीन हो जाएगा? वह मान लेगी? मान लेती होंगी लड़कियाँ। मानना ही होता होगा। फिर अचानक एक दिन उनके बचपन की सहेली पुकार देगी - 'रंजू!'

अचानक एक दिन माँ का खत आएगा - 'प्यारी रंजू...' से शुरू होता हुआ... और... कोई कीड़ा पड़ जाएगा आँख में, लाल हो जाएँगी आँखें, कहीं से मन-भर पानी आएगा और सीधा आँखों की खाली रह गई जगह में भरकर मचल उठेगा। कि अपनी ही अँगुली से खुदा जाएँगी आँखें... कुछ ऐसा ही कह पाएगी वह? कुछ ऐसा ही समझ पाएँगे लोग!

अचानक एक दिन, कोई काम आ पड़ेगा। अपना सर्टिफिकेट निकालेगी लड़की और भौंचक रह जाएगी कि वहाँ अभी तक उसका आप धड़क रहा है - एक नाम, जो अब तक उसकी नसों में बहता चला जा रहा है। एक नाम, जो मर ही नहीं सकता।

स्त्री नाम नहीं हो सकती? कभी भी, किसी भी क्षण उसे बदल देना होता है अपना आप। पुराना पड़ जाता है नाम। इतना पुराना कि जीवन में उसका प्रवेश वर्जित हो जाए। यानी चोला उतार कर आना है, जैसे आत्मा चोला उतारकर आती है।

शादी के विज्ञापनों में यह लिखा जाना चाहिए।

नहीं लिखा जाता।

अंडरस्टुड होता है बहुत कुछ।

बस उसी क्षण मैंने अपने आप से पूछा था कि इसका नाम क्या है? क्या हो सकता है? किसी ने कभी तो किसी नाम से इसे पुकारा ही होगा। वह कहाँ है? जीव विज्ञान का कोई मिले तो पूछूँगी।

बस इसीलिए बहुत सारे प्यारे नाम सोचते हुए भी मैं उसे नहीं दे पाई। मेरे साथ उसे किसी अलग नाम से आना हो, यह जरूरी नहीं। यह कोई शर्त नहीं है। जब भी मिलेगा, उसका असली नाम ही मिलेगा। मैं इसके लिए इंतजार करूँगी। हाँ, लाड़ में आकर मैं कोई भी नाम पुकार लेती हूँ - रानी, मिटठू, गुड्डी... कुछ भी। लाड़ भर जाने पर वे नाम नहीं रह जाते, विशेषण हो जाते हैं। उन सबका एक ही अर्थ रह जाता है, प्यार, मिठास, अपनापन।

मैं उस आदमी से डरती थी, जिसने मेरे साथ अग्नि को साक्षी मानकर कुछ कहा था, बुदबुदाहट जैसा। मैं साफ कुछ सुन-समझ नहीं पाई थी। खाली बाप-दादों का नाम ही स्पष्ट मेरे कान में पड़ा था। मैं उसके घर में थी। डरती थी, इसलिए कितनी बातें सोचती थी, कह नहीं पाती थी। जो कभी-कभी कह डाला गया था, वह इतने दिनों का संचित था कि कहते समय जो शब्द फूटे थे, वे संयम से नहीं बने थे। इतने इतने उग्र अर्थ न जाने कहाँ से साधारण शब्दों में घुस गए थे। 'लड़ाके शब्द' जैसा कुछ कहा जा सकता था उन्हें। 'लड़ाके शब्दों' को गंभीरता से लिए जाने की कोई संभावना नहीं थी। लड़ने के बाद उनका अस्तित्व खत्म मान लिया जाता था। उन्हें कोई नहीं सुनता था। फिर धीरे-धीरे ये शब्द गायब होने लगे। सचमुच अस्तित्वहीन। मैं अपने भीतर होती गई। वे न जाने किस जगह।

तो जिस घर में मैं रहती थी, जो उसका था। उसमें एक लंबा दालान जैसा बरामदा था। तीन कमरे थे, जिनके दरवाजे बरामदे में खुलते थे। घर पक्का था, बल्कि फर्श पर मुजैक भी था। जमाने पहले लगा हुआ होगा। यह कहने के लिए था कि कमरों के दरवाजे बरामदे में खुलते थे। कमरों के चौखटे बरामदे में खुलते थे। दरवाजा नहीं था, उसमें भी, जो बीच वाला मुझे दिया गया था, न उसमें, जिसमें देवर रहते थे, न ही उसमें, जिसमें सास और मौसी रहती थीं। केवल दो दरवाजे थे। एक बाहर खुलता था, दूसरा पीछे। गनीमत थी कि लैट्रीन-बाथरूम में दरवाजे थे। एक लंबे समय से सबके मन में था कि दरवाजे लग जाएँ, पर नहीं लग पाए थे। काम चल रहा था। चलता ही जा रहा था। पहला कमरा जिसे कुछ भी कहा जा सकता था, ड्राइंगरूम, बेडरूम, लीविंगरूम, गेस्टरूम, कुछ भी। इसमें तीन देवर रहते थे और आने वाले मेहमान भी बैठ, रह लेते थे। दूसरे के बाद जो तीसरा और आखिरी था, उसमें मौसी रहती थीं और मौसी को पूरा कब्जा करने से रोकते हुए सास भी। मौसी बालविधवा थीं। इन्हीं लोगों

के सहारे यहाँ रह गई थीं। इससे भी बड़ी बात यह थी कि मौसी नौकरी करती थीं और उनकी ससुराल से सँभालकर लाया हुआ अक्सा-बक्सा बीचवाले कमरे के ठीक सामने बने स्टोर जैसे कमरे में बंद रहता था। मौसी कुछ चिड़चिड़ी थीं। सब मौसी पर चिड़चिड़ाते थे, वे सब पर।

दरवाजे की जगह पर्दे थे। पीछे के दरवाजे और खिड़कियों से आती हुई हवा पर्दे को कभी भी पर्दा नहीं बने रहने देती। पर्दे के पीछे मैं हरदम चौकन्नी रहती। मुझे बड़ा डर लगता। पर्दा कभी भी, कोई भी शक्ल बना लेता। कभी मोटा, कभी पतला, कभी लंबा, कभी उड़नछू। रात को बरामदे में सास जी अपनी खटिया बिछाकर सोतीं। ठीक बीच के कमरे के सामने। मैं रात-भर सो न पाती। रात को जब सोने के लिए वह आते तो मैं डर से काँपने लगती। डरते-डरते कई बार मैंने कहना भी चाहा, पर वे सुनने के मूड में नहीं होते। 'थका हूँ, बाद में बताना' वे कहते। वह 'बाद' नहीं आता। मैं तब और घबड़ाती, जब उनका हाथ मेरी देह पर होता। वे मुझमें कुछ ढूँढ़ रहे होते और मेरी आँखें पर्दे पर लगी रहतीं। मैंने पर्दे को इतना देखा, इतना ज्यादा कि मैं उसकी एक एक लकीर बात सकती हूँ। कितने फूल थे, किस जगह कौन-सा रंग था, कितनी दूरी पर कौन-सी पत्ती। यह सब अब भी मेरी अँगुलियों पर है। अब, जबकि मैं वहाँ नहीं हूँ।

पूरा नंगा होना कौन बर्दाश्त करेगा? मुझसे भी नहीं होता। मन करता खुद पर्दा बन जाऊँ। पर्दा पकड़कर खड़ी हो जाऊँ। क्या करूँ कि पर्दा, पर्दा हो जाए। देवर बड़े हैं, किसी भी वक्त इधर से निकल सकते हैं। हे प्रभु! ऐसा कोई भी वक्त आने के पहले मैं मर क्यों न जाऊँ। लगता कि यह घड़ी-भर का वक्त कैसा बड़ा होता जाता है। यह कब बीते। ढंग से उन्हें देख भी न पाती। उन्हें रोक भी न पाती। मेरा बरजना बहुत मरियल बरजना होता। कहीं दर्द होता, कहीं कुछ चुभता, खिंचता... तो मुँह बंद करके सह लेती। पर्दे के पीछे सास की खाट दिख जाती। खाट उस वक्त इतनी डरावनी लगती, लगता कि उसके पाए चल पड़ेंगे। वह खुद ब खुद मेरे कमरे में दाखिल हो जाएगी। मुझे देख लेगी। मुझे इस रूप में... यह खाट मेरी दुश्मन।

यह सब भी मैं किससे कह पाई। उसी से। वही, जो चमकती, गुनगुनाती चक्कर लगाती रहती है यहाँ-वहाँ।

सोचा था इस शहर में आने पर उनका अजनबीपन कुछ हद तक दूर हो जाएगा। पर हुआ उल्टा। कुछ साल पहले जब हम इस शहर में आए थे तब से वे और अजनबी होते गए। होते ही चले गए। मैं रोक नहीं पाई। रोकते कैसे हैं? मैंने बहुत बार सोचा भी। मुझे

जो तरीके आए, मैंने इस्तेमाल भी किए, पर वे नहीं खुले। वे बंद दरवाजा थे। मुख्य दरवाजा। मैं भीतर से घुमड़कर उन तक जाती थी, सिर पटकती और लौट आती।

घर, जिसमें अब हम थे, किसी ने अपने बड़े से अहाते में बनवाया था। दो कमरा, किचन और लैट्रीन-बाथरूम। जल्दी में बना लगता था यह या लापरवाही में। अधूरा-सा। दोनों कमरे, कमरों के अंदाज से बहुत ज्यादा बड़े थे। क्या पता ये कमरे, कमरे न होकर स्टोर के लिए बनाए गए हों और फिलहाल रखवाली के लिए एक किराएदार की याद ने इसमें किचन और बाथरूम जोड़ दिया हो। यह भी हो सकता है कि इसका जो कमरा किचन के साथ लगा है, अहाते में फैक्ट्री लगने के बाद चौकीदार के काम आए। स्टोर कम चौकीदार रूम। और पीछे वाला कमरा, जिसे हम फिलहाल बेडरूम मानकर चल रहे हैं, साहब का गैराज बन जाए। या दोनों सिर्फ गैराज हों। क्या पता? जो भी हो। बरसात में इसकी छत कहीं-कहीं से टपकने का आभास देती। जैसे किचन के उस ओर वाले कोने की दीवार से पानी रिसता सा लगता। रिसकर नीचे नहीं आता। जाने कहाँ चला जाता! धरती के भीतर तक या उससे भी होता हुआ समुद्र तक। कहीं तक तो जाता ही होगा।

वे कई बार मकान मालिक तक पहुँचा चुके थे कि अगर ऐसा ही चलता रहा तो किचन के उस ओर वाली दीवार ढह जाएगी। दीवार ढह गई तो किचन और अहाते के बीच कुछ नहीं रह जाएगा। हम किचन में खाना बना रहे होंगे और लगेगा कि अहाते में बना रहे हैं। अहाते के उस हिस्से में खड़े होंगे तो लगेगा किचन में हैं। यही हाल बाथरूम का था। बेडरूम, जिसे हमने मान लिया था, बेहतर था। कमरों के बड़ेपन में बच्चे के सारे खेल समा जाते। अहाते से लेकर कमरों तक हमारे लिए पूरा एक संसार था। साँप, बिच्छू, गिरगिट, मेढकों, झिंगुरों, बरसाती कीड़ों-मकोड़ों, कभी-कभी झुंड में चले आए लंगूरों, कुत्तों, बिल्लियों, भटक आई गायों... प्राणियों से हमारी भेंट इसी में हो जाया करती। हम इसी में घूम लेते या घूम-घूम कर इसी में होते।

किसे सुनाते?

यही कि चीजों को समय-समय पर रिपेयर की जरूरत पड़ती है।

आदमी को भी।

मकान मालिक दूर थे। मुंबई में। चाहते थे कि बिना चारदीवारी वाले, सिर्फ दो फीट तार से घेर दिए गए उनके अहाते की कोई रक्षा करता रहे। यह उनकी जरूरत थी। घर उसकी जरूरत थी। हम एक दूसरे की जरूरत के मुताबिक टिके हुए थे। वह सब

धीरे-धीरे इन कमरों में आता गया, जो घर के लिए आवश्यक था। किस्तों में, तमाम कटौतियों के बाद भी आता चला गया। कुर्सियाँ, पर्दे, पलंग, मेज, टी.वी., मिक्सी, कूलर, फ्रिज वगैरह...। यहाँ तक कि उनके पास एक कैमरा भी आया। जिसे छूकर केवल एक बार मैंने देखा था। तब, जब वह आया था। इसके बाद वह उन्हीं का हो गया। इतना उनका कि मैं कभी-कभी यह भी नहीं जान पाती कि वह कहाँ है? मुझे नींद से जगाकर मेरी कई तस्वीर उतारी गई थी। तस्वीरें धुलकर आतीं तो अलग लगतीं। कोई और औरत उनमें बैठी या खड़ी दिखती। उसके चेहरे पर हड़बड़ाहट दर्ज होती। लगता कि वह किचन में उबलता दूध छोड़कर आई है। या सब्जी जलने ही वाली है। या आयरन का स्विच खुला रह गया है। ऐसी ही कोई हड़बड़ाहट...

'इत्मीनान से बैठो।'

उन्होंने कई बार कहा भी।

पर तस्वीरें नहीं बदल पाईं।

वे इससे सख्त नाराज हुए।

मैं छोड़ नहीं पाई। उन्होंने छोड़ दिया।

तस्वीर और कैमरा मेरी आँखों से ओझल हो गए।

मैं सारे दिन साफ-सफाई में लगी रहती। घर से छूटो तो अहाते की। अहाते से छूटो तो घर की। काम है कि खत्म ही नहीं होता। अनंत है घर का काम। कोई पहले और अब के इस घर को देखे तो कह पड़ेगा - क्या था पहले और अब मैंने इसे क्या बना दिया है!

इस घर के अहाते के बाद दूसरे अहाते थे। लंबे-चौड़े। इंडस्ट्रियल एरिया है यह। विकास के पहले का। शहर से हटकर। इन अहातों में भी कोई न कोई इंडस्ट्री वगैरह लगेगी ही। उनमें भी ऐसे ही घर हैं। ऐसे ही लोग। छितरे-छितरे इन घरों में पहले मैं खूब जाती थी। वे भी आ जाते थे। धीरे-धीरे यह जाना कम हुआ। उनका आना भी। फिर बहुत कम। अब तो मानो फुर्सत ही नहीं रह गई।

'सपने में कोई बड़ी इमारत देखो तो क्या होता है?'

मैंने एक बार उनसे पूछा था।

हो न हो यह किसी बड़े मेडिकल कॉलेज की होगी। सोचती हूँ यह। इसलिए कि इस तरह की किसी इतनी बड़ी इमारत से मेरा भला क्या संबंध? पढ़ती थी तब डॉक्टर बनने का सपना देखती थी। हर लड़की कोई न कोई सपना पालती ही है। इससे कोई मतलब नहीं कि डॉक्टर बनने का ख्वाब लिए टीचर बन जाए या कुछ भी न बन पाए।

'हाउस वाइफ' बनना 'कुछ भी बन जाना' नहीं होता।

मेरे भी सपनों में सफेद कोट घूमता था। कभी-कभी सपनों में ही आँखों पर सादा चश्मा पहन लेती। चश्मा पहननेवाले पढ़ाकू और स्मार्ट समझे जाते। तो पढ़ाकू और स्मार्ट हो जाने के बाद सादे शीशेवाला, पतली कमानीवाला चश्मा मेरे पास न हो, ऐसा मैं सोच नहीं पाती थी। इसी का प्रभाव था कि पढ़ाकूवाली स्थिति में न होते हुए भी जैसे ही नौवीं कक्षा में पहुँची और धारा परिवर्तन का प्रश्न आया, झट से जाकर साइन्स की तरफ बैठ गई। सारे पढ़ाकू और स्मार्ट उधर ही बैठे थे। उत्साह उस तरफ ज्यादा था। बातें उस तरफ ज्यादा थीं। कायिक चेष्टाएँ उस तरफ ज्यादा थीं। आर्ट्स वाले तो सिर्फ थे। 'सिर्फ थे' में बदल जाने को उस वक्त मैंने थोड़ा हिकारत से देखा था। यह मेरी पसंद में नहीं था।

उस शाम ने, जो बेहद हसीन होनी थी, मामला बिगाड़ दिया। माँ को उम्मीद ही नहीं थी कि मैं कोई ऐसा-वैसा कदम उठा सकती हूँ। वे चौंकी। फिर हँसी - 'मजाक न कर'। फिर रात में बुरादे के चूल्हे के आगे बैठकर रोटियाँ सेंकते समय उनका चेहरा बदल गया। मुझे चौका-बेलन थमाकर कहा - 'गोल-गोल बेलकर दिखा तो रानी!'

मैंने भरसक गोल बेलने की कोशिश की। मैं कोशिश करती जाती, वे कहती जातीं - 'बहुत बढ़िया। जैसे पृथ्वी गोल, जैसे तरबूज गोल...'

तारीफों के बीच अचानक वे बड़बड़ाने लगीं - 'यहाँ पर जितने लोग साइन्स पढ़े हैं, क्या कर रहे हैं? नर्स का पेशा अच्छा नहीं माना जाता। लड़के तो चलो कंपाउंडरी कर भी लेते हैं। लड़कियाँ बेचारी... अस्पतालों में मिडवाइफ बन जाती हैं। एक छोटे से बक्से में सुइयाँ और दवाएँ रखकर घर-घर घूमते दिख जाएँगी। गाँवों-गिरावों में सरकारी अस्पतालों की तरफ से तैनात की जाती हैं। क्या खाक इज्जत है उनकी। एक-एक नर्स के दस-दस डॉक्टरों से संबंध हैं। क्या करें भी। नाइट ड्यूटी में मजबूर हो जाती हैं...'

'देखा साइन्स का अधोपतन! ऐसा पढ़ने से तो बेहतर है आर्ट्स साइड हो जाना।'

यह उन्होंने नहीं कहा।

यह बिटविन द लाइन्स था। अंडरस्टुड। मैं समझ गई।

नर्सों के लिए मैं बहुत दुखी हुई। बेचारी नर्सें!

मिडवाइफों के लिए मैं और दुखी हुई। बेचारी मिडवाइफें! घर-घर तक छोटे बक्से में सुई-दवाई भरकर पहुँचती हैं और इज्जत खाक! साइन्स पढ़े लड़के बेचारे! कंपाउंडर और वार्डब्वॉय में अटककर रह जाते हैं।

तो डॉक्टर कौन लोग बन जाते हैं?

'कितनी फीस है डॉक्टरी की, पता है?'

माँ ने चौके पर से मेरी बेली आखिरी रोटी उठाते हुए अप्रत्याशित ढंग से 'साइन्स पढ़ने के नुकसान' विषय में एक और दुर्गुण जोड़ा। मेरे मन की बात मानो पढ़ रही हों।

'लाखों लग जाते हैं। बड़ी पढ़ाई के बड़े खर्चे। तब भी क्या गारंटी की पास हो ही जाएँ। कितने लोग फेल होकर वापस लौट आते हैं। खालवाले के लड़के गोपाल कृष्ण को देखो। वापस आ गए। दुकान खोलनी पड़ी। जब यही करना था तो माँ-बाप का इतना पैसा क्यों डुबाना? बड़ी भयंकर पढ़ाई होती है उसकी। सबके वश का नहीं है...'

माँ ने और भी बहुत कुछ कहा होगा। जैसे टीचर ही बनना है तो कुछ भी पढ़ो। हर विषय के टीचर होते ही हैं... आदि, आदि। मेरे मन ने यह सब नहीं पकड़ा। सिर्फ 'लाखों लग जाते हैं' वाली बात पकड़ी और यह मान लिया कि इतना लाखों कहाँ से लग सकता है अकेले मेरी ही पढ़ाई पर। बाकियों का भी तो कुछ हिस्सा है ही इस 'लाखों' में। 'सब के वश का नहीं है' से यही निकला कि 'सब' में 'हम' छिपा है। हमीं हैं, जिनके वश का बिलकुल नहीं है। बस दूसरे दिन चुपचाप निरुत्साह सी जाकर आर्ट्स के सड़े-सड़े (माँ के अनुसार सरल-सरल, पढ़ाकुओं के अनुसार सड़े-सड़े विषयों में अपना नाम लिखा लिया।

अचानक क्या देखती हूँ कि कल की तुलना में आर्ट्स वालों की संख्या बहुत बढ़ी जान पड़ती है। तमाम सारी लड़कियाँ, जो कल उधर थीं, आज इधर बैठी दिखीं। लड़कों के बारे में कुछ कह नहीं सकते। यह खालिस लड़कियों का सरकारी कॉलेज है। तसल्ली बहुत मिली। उस 'सब' के 'हम' में ये लोग भी शामिल थीं।

न दौड़ में कोई अकेला है, न छूट जाने में।

तब से रोज रोटी बेलती हूँ। रोज सोचती हूँ। सोचती हूँ पृथ्वी के बारे में, लोगों के बारे में, पैसों के बारे में... 'विज्ञान वरदान है कि अभिशाप' इस बारे में भी सोचती हूँ। कटौती के बारे में भी। माने बचत। इमारत के बारे में नहीं सोचती हूँ। वह तो यूँ ही चली आती है। जब, तब। जा पाती तो इसी में जाती। नहीं जा पाई तो 'इसी में जाना था शायद' सोचकर रह जाती हूँ। इसी सोचने से निकलकर उनसे पूछा था।

'कुछ नहीं होता।'

वे हैरत में थे। सपने केवल सपने होते हैं। रोज देखने के लिए। रोज भूलने के लिए।

मैं भूल जाती हूँ। फिर किसी दिन अचानक यही चली आती है। मुझे फिर याद आ जाता है। मैं पैसा जमा करती हूँ। हर चीज में कटौती। तब भी कितना हो पाता। बात 'लाखों' की है।

'हमें कटौती करनी चाहिए।'

मैं उनसे कहती हूँ।

'करो।'

वे गंभीर चेहरे पर क्षण भर को एक छोटी सी मुस्कराहट चिपकाते हैं, फिर तुरंत पहले जैसे। लेकिन इससे लगा कि वे खुश हुए होंगे।

मैं अपने वक्त को चौके पर बिलकुल गोल पृथ्वी में बेलती हूँ। खूब दम लगाकर। गोलाकार दुनिया। घूम-घूमकर हम वहीं आते हैं। हम इसे बदल नहीं सकते। न इसके आकार को, न इसके परिधि पर घूमने को। परिधि पर अपने घूमने को भी हम नहीं बदल सकते। हम यहीं पहुँचते हैं, चाहे जहाँ से चलें, चाहे जहाँ तक चलें। इसी में, इसी के भीतर, इसके बाहर की छटपटाहट के बावजूद।

'पगलाना बंद करो।'

वे चीखते हुए कह रहे हैं। लोग भी कुछ कह रहे हैं। बच्चा चुप है।

मैंने अभी-अभी फर्श को रगड़-रगड़कर चमकाया है। उस पर तुरंत ही ये लोग धूलभरे जूते-चप्पल लिए-दिए चले आ रहे हैं। जो धूल फर्श पर गिर रही है, वह फर्श पर नहीं गिर रही है। मेरे दिल पर गिर रही है, फेफड़ों पर गिर रही है। मेरी साँस अटक रही है। मैं नहीं देख सकती, ऐसे मेरी मेहनत का कचूमर निकलता जाए। मैं रोज कहती हूँ -

'जूते-चप्पल बाहर निकालकर आया करो।' मैं बाहर एक तख्ती लगाना चाहती हूँ - 'कृपया जूते-चप्पल बाहर उतारकर आएँ।' नहीं लगा पाती। बहुत बुरा लगेगा ऐसा सब। मैं चीखती हूँ। जूते-चप्पल अहाते से भी बड़े लगते हैं। मैं चिल्ला रही हूँ। 'जूते' की जगह मेरे मुँह से 'खून' जैसा कोई शब्द निकल रहा है।

वे कह रहे हैं कि मैं मक्खियों, मच्छरों को देखकर बड़बड़ाने लगती हूँ। किसी अज्ञात को संबोधित करके अनाप-शनाप बकती रहती हूँ।

क्या अनाप-शनाप?

वही, भद्दी बातें - सेक्स-वेक्स की बातें... बच्चे के जनम की बातें... खून की बातें... बेहूदा बातें...

मैं उससे बतिया रही हूँ। उसी रानी, मिटठू, लाडो मक्खी जैसी कुछ से...

वह है, तब भी, वह नहीं है, तब भी। न जाने कैसे उसका न होना भी उसका होना हो गया है।

हम जहाँ होते हैं, वहाँ नहीं होते।

जहाँ नहीं होते हैं, वहीं कितना-कितना होते हैं।

कोई मानता नहीं। यही, हमारा होना।

मैंने कहाँ कहा, उसे अपना साझीदार, विकल्प, अपना आप... मैं यह कहकर रोती। पछाड़ खाकर गिर जाती। कोई भी अपने प्रियजन की लाश देखकर ऐसा कर बैठेगा। लेकिन कहाँ किया मैंने? कितना रोका अपने आपको। बस, सुबह ही, ठीक उसी के निर्धारित समय में, उसी के इंतजार में थककर मैं दरवाजे के बाहर निकली। अहाते में। बेहद स्वाभाविक काम से। वही, पोंछे का कपड़ा फैलाने। बस, वहीं दरवाजे के सामने लाइन बनाकर जाती चींटियों को देखा मैंने। कुछ झुंड में थीं। कुछ उसे कंधा देने की तरह उठाकर ले जा रही थीं। मैं चुप रही। मुझे काम निपटाने थे। मैंने खाना बनाया उसके बाद भी। मैंने उनका और बच्चे का इंतजार किया। मैंने अपने सारे काम पूरे किए। अब रोने लगी हूँ। रोना है कि बंद ही नहीं होता...

'डिप्रेशन बहुत बढ़ गया लगता...'

कोई बुदबुदा रहा है किसी और के कान के पास। मुझे बाँह से पकड़कर कोई ऑटो में बैठा रहा है। मेरे साथ कितनी कहानियाँ... कितने रहस्य ऑटो में बैठ रहे हैं...